

## एक नौजवान की आत्मकथा

● कपिल स्वामी, दिल्ली

जो हाँ, ये मेरी आत्मकथा है। एक नौजवान की आत्मकथा। जिंदगी में एक खास मोड़ आने से पहले, मैंने अपने आपको नौजवान मानना बंद कर दिया था। और मेरी यह सोच ठीक ही थी क्योंकि उस समय 25 साल का होने के बावजूद मैं दिमागी तौर पर बूढ़ा हो चुका था। मैं एक टूटा हुआ, खण्डित आत्मविश्वास वाला और उत्साह उमंग से खाली व्यक्तित्व था। मेरी बातों, व्यक्तित्व और चालढाल तक से एक निराश भरा बुढ़ापा झलकता था। लेकिन मैं हमेशा से ऐसा नहीं था मैंने भी अपने बचपन में खूब शरारतें की। तब उत्साह और मस्ती पर सवार में हवा में उड़ा करता था। मैं एक निम्नमध्य ययवर्गीय चार बच्चों वाले परिवार में सबसे बड़ा लड़का था। मैं पढ़ाई में काफी होशियार समझा जाता था। घर, मोहल्ले से लेकर स्कूल तक मुझे एक ज़हीन छात्र माना जाता था। लोग कहते थे कि शायद ये कुछ बन जाएगा। अपनी काबिलियत और लोगों की प्रशंसा ने मुझे कल्पनालोक में विचरण करने की जमीन दी। 12वीं कक्षा तक आते-आते मैं एक बड़ा आदमी बनने, ऊँचा ओहदा पाने और एक सुखमय जीवन जीने का सपना देखने लगा। मुझे अपनी जिंदगी और परिवार की मजबूरियाँ, भविष्य में समाप्त होती दिखाई देती थी। प्राइवेट स्कूल और दृश्योदान की फीस के लिए मां-बाप की जोड़-तोड़, वर्दी और जूतों की मांग को अगले महीने पर टालते जाने की लाचारी, और आर्थिक परेशानियों के कारण होने वाली घर में चख-चख के बीच भी मैंने अपना हौसला बनाए रखा। मुझे याद है कि कैसे मैं पुराने साफ़ कागजों को सिल कर कॉपी बना लेता था जिस पर मेरे दोस्त हँसा करते थे। लेकिन इन सब परिस्थितियों ने मुझे और भी ज्यादा दूढ़ किया कि मैं। एक बेहतर जिंदगी पाने की लड़ाई पुरजोर तरीके से लड़ूँ।

लेकिन जिंदगी सपनों जितनी हसीन नहीं होती। 12वीं करने बाद मेरे सामने दो रास्ते थे पहला या तो किसी कॉलेज से ग्रेजुएशन, पोस्ट ग्रेजुएशन करूँ और किसी विशिष्ट क्षेत्र में जाऊँ या फिर तत्काल कोई व्यावसायिक कोर्स करके नौकरी पकड़ूँ और साथ में कॉर्सेंडेन्स से पढ़ाई जारी रखूँ। इच्छा होते हुए भी घर की परिस्थितियों के कारण दूसरे रास्ते को पकड़ने के सिवा कोई चारा न था। चूंकि 'कंप्यूटर का ज़माना है' इसलिए माँ-बाप ने किसी तरह एक छोटे से निजी संस्थान में दाखिल करा दिया। क्योंकि इससे ज्यादा पैसा देने की हमारी हैसियत भी नहीं थी। उस संस्थान में लगभग 9 महीने में डी०टी०पी० का काम सिखाया गया। मैंने खूब मन लगाकर मेहनत से सीखा। लेकिन यह क्या? कोर्स खत्म करके नौकरी के लिए जब इंटरव्यू देने कई जगह गया तो पता लगा कि

संस्थान वालों ने तो व्यावहारिक ज्ञान कुछ दिया ही नहीं, और किताबी ज्ञान की कोई पूछ नहीं। सो कई जगह धक्के खाकर, थकहार कर बैठ गया। जिंदगी की तल्ख सच्चाईयों से मेरा सामना शुरू हो चुका था। किशोरवस्था के हसीन सपने धीरे-धीरे काफ़ुर हो रहे थे। लेकिन तब भी अपनी काबिलियत पर भरोसा कायम था।

बाद में किसी तरह मौसाजी ने किसी प्रकाशक की बड़ी खुशामद करके मुझे काम पर लगवाया। तनखावाह तय हुई सिर्फ 1200 रु०-कारण यह कि मुझे काम सिखाना पड़ेगा। मैंने सोचा, चलो कुछ तो मिलेंगे और फिर सीख कर ज्यादा कमा सकूँगा। अंसारी रोड के उस प्रकाशक ने मुझसे जल्द ही आफिस का सारा काम कराना शुरू कर दिया। मुझे कंप्यूटर पर फॉर्डिंग के अलावा आफिस में पानी भरना, टेलीफोन, बिजली के बिल जमा करवाना, यहाँ तक कि किताबों के भारी-भारी बंडल दूसरे प्रकाशकों/वितरकों के पास दौड़कर ले जाने पड़ते थे। मतलब कि प्राइवेट नौकरी की सारी मजबूरियाँ-मुश्किलों को झेलना होता था। तब भी मन में उम्मीद थी कि एक बार काम सीख जाऊँ तो अच्छी नौकरी करूँगा। पर ये भ्रम भी धीरे-धीरे जाता रहा। डी०टी०पी० के अच्छे जानकारों को भी 34 हजार तक ही मिल पाते हैं। इतने पैसों में अगर दिल्ली जैसे शहर में आय पर पूरे घर की जिम्मेदारी हो तो घर सिर्फ घिस्ट सकता है, चल नहीं सकता। मेरा मालिक मुझसे खूब जमकर काम करवाता और सिखाने के नाम पर टाल जाता। वहाँ पर ड्यूटी 11 घंटे करनी पड़ती, छूटी के नाम से ही मालिक को एलर्जी थी। कभी डॉटेकर, तो कभी प्यार से वह काम करवाता था। जब मुझे समझ आया कि ऐसे तो जिंदगी भर खटने पर भी न तो कभी कुछ सीख पाऊँगा और न ही एक ठीक-ठाक जिंदगी जी सकूँगा तो मन में बेचैनी पैदा हो गयी। अपनी सारी काबिलियत अच्छी पढ़ाई सब बेकार नजर आने लगी। मुझे लाचार बेबसी भरे अंधकारमय भविष्य के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता था। इस स्थिति में निकलने की सूरत में ज्यादा से ज्यादा यह हो सकता था मेरी तनखावाह 1800-2000 रु० हो जाए और कोई कम कूर मालिक हों, पर तब भी घर की परेशानियाँ तो यथावत ही रहेंगी। हालाँकि ये भी इतना आसान नहीं हैं। जान-पहचान के बिना कोई आफिस में घुसने नहीं देता। आस-पड़ोस के लोग या रिश्तेदार भी बेरोजगार लड़कों को सिवाय झूठे आश्वासनों के कुछ नहीं देते। नतीजतन थक-हारकर वही नौकरी करने की मजबूरी बाकी बचती है। अब तक मेरा आत्मविश्वास काफी हिल चुका था मुझे अपने पैरों के नीचे जमीन खिसकती दिखाई पड़ रही थी।

इसी कशमकश के बीच घरवालों के कहने पर मैंने शादी कर ली कि चलो कुछ मानसिक राहत मिलेगी कोई दुखदर्द बाँटने वाला सच्चा हमदर्द मिलेगा। मेरी पत्नी वास्तव में ऐसी ही है। एकदम सुशील, आज्ञाकारी पत्नी। उसने आते ही मेरे साथ घर की दिक्कतों को भी सहज ढंग से अपना लिया।

तकलीफों को चुपचाप सहने की आदत डाल ली। आर्थिक परेशानियों के चलते उसने काम करने की इच्छा जाहिर की लेकिन मध्यवर्गीय अंहकार और समाज के डर ने घरवालों और मुझे ये फैसला लेने नहीं दिया।

कई जगह धक्के खाकर आज मैं एक जगह प्राइवेट नौकरी कर रहा हूँ। तनख्ताह 2200 रु० हो गयी है। किसी तरह गुजारा पूरा होता है। बूढ़े माँ-बाप, पत्नी और तीन छोटे भाइयों की पढाई का खर्च पहाड़ सा जान पड़ता है। सही है कि परिस्थितियाँ चेतना का निर्माण करती हैं। परिस्थिति समझकर(मुझसे)छोटा भाई भी 12वीं करके प्राइवेट नौकरी करने लग गया है। यहाँ तक आते-आते मेरे सारे सपने, सारी महत्वाकांक्षायें खत्म हो चुकी थीं। 13-14 घंटे की थकान से दिमाग बेतरह थक जाता। दिमाग लगभग संज्ञाशून्य हो गया था। कहीं मन नहीं लगता था। कुछ समझ नहीं आता था कि इतनी बड़ी जिंदगीं ऐसे हालात में कैसे गुजर पाएगी। आगे के सारे रास्ते अँधेरी सुरंग के समान लगते थे जिनपर सिर्फ चुपचाप चला जा सकता था, जो कहां, कब खत्म होंगे कुछ पता नहीं। अपनी काबिलियत का सही उपयोग न कर पाने पर खीझ होती थी। इस बदहाली से लड़ने का विश्वास पैदा नहीं कर पाता था। जिंदगी एक दर्द पर घिसटी हुयी जान पड़ती थी, जिसमें न रफ्तार है न ताकत। इन्हीं दिनों का मैने शुरू में जिक्र किया है कि तब मैं अपने आपको नौजवान नहीं मानता था। मेरी नौजवानी की जगह असमय आए बुदापे ने ले ली थी।

यहाँ तक मेरी आत्मकथा आम शहरी मध्यवर्ग के लाखों परिवारों के करोड़ों नौजवानों की जिंदगी की तरह साधारण और सामान्य है। जैसा मेरे साथ हुआ वैसा तो कईयों की जिंदगी में होता ही है लेकिन मेरी आत्मकथा वही पर खत्म नहीं होती बल्कि इसके बाद मेरी जिंदगी में एक खास मोड़ आया जहाँ से मेरी जिंदगी एकदम बदल गयी।

बात सन् 2000 के विश्व पुस्तक मेले की है। मैं अपने मालिक के काम के सिलसिले में वहाँ गया था। काम पूरा होने के बाद मैंने सोचा कि जब यहाँ तक आया ही हूँ तो विश्व पुस्तक मेले का जायजा लेते हुए चलता हूँ। तभाम चमक-दमक लिए व्यावसायिक स्टॉलों और तरह-तरह के अच्छे-बुरे साहित्य के बीच से मैं यूँ ही ख़्यालों में खोया गुज़र रहा था इतने में एक स्टॉल पर मुझे कुछ लोग नज़र आए जो किसी प्रकाशन के साधारण कर्मचारी नहीं लग रहे थे। वे करीब 20-25 नौजवान लड़के-लड़कियाँ थे जिन्होंने सिर पर लाल पट्टियाँ बांध रखी थीं और भगत सिंह के नारों वाले एप्रेन पहन रखे थे। न जाने कौन-सी ताकत थी जो मुझे उस स्टॉल की तरफ लेते गई। वहाँ पर भगत सिंह का और दुनिया भर का क्रांतिकारी साहित्य का मौजूद था। भगत सिंह से मैं भी उसी तरह प्रभावित था जिस तरह आम तौर पर लोग हुआ करते हैं—यानी एक स्वतंत्रा सेनानी, एक बहादुर, हेरोइक क्रांतिकारी की रूप में। स्टॉल पर खड़े एक नौजवान ने जब मुझे उत्सक्तापूर्ण निगाहों

से किताबें, स्टॉल और स्टॉल पर मौजूद लोगों को देखते पाया, तो मुझसे बातचीत शुरू की। उसने मुझे बताया कि भगत सिंह गोरी बुराई को काली बुराई से बदलने के लिए नहीं लड़ रहे थे, बल्कि वह हर किसी की बुराई और किसी भी रूप में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के खिलाफ लड़ रहे थे। वह पूँजी की लूट पर टिकी व्यवस्था को ही खत्म कर आम मेहनतकश आबादी का राज लाने की लड़ाई लड़ रहे थे। और इसलिए आज भी उनकी लड़ाई और सपने अधूरे हैं जिन्हें पूरा करने की जिम्मेदारी इतिहास ने मेहनतकशों के बीर सपूत्रों के कन्धों पर रखी है। यह स्टॉल भी ऐसे विचारों को व्यापक आबादी तक पहुँचाने के लिए लगाया गया है। मैं इस सच्चाई को तो व्यावहारिक तौर पर जानता ही था कि आज धन्नासेठों का राज है और मेहनतकशों और आम मध्यम वर्ग के नौजवान अगर योग्य भी हों तो भी उनकी कोई पूछ नहीं होती। उस नौजवान, जिसने बाद में अपना नाम तरुण बताया, से लम्बी बातचीत के बाद मुझे भी लगा कि मेरे, और मेरे जैसे करोड़ों आम नौजवानों के बेरोजगारी, महँगाई, अशिक्षा और भ्रष्टाचार से ब्रस्त जीवन का मूल कारण यह पूँजीबादी व्यवस्था है। तरुण ने और भी कई बातें बताई जिनमें से कुछ मेरे सिर के ऊपर से भी गई, लेकिन स्पिरिट मुझ तक पहुँच गई थी। मैंने कुछ किताबें लीं, तरुण के साथ पत्तों का आदान-प्रदान किया और बिदा ली। तरुण ने मुझे बताया कि देश के कई हिस्सों में ऐसे ही नौजवान बदलाव के विचारों को फैला रहे हैं। फिर तरुण से मिलने का एक सिलसिला शुरू हो गया। मैं धीरे-धीरे उसके संगठन से भी जुड़ गया और कामों में भागीदारी शुरू कर दी। मेरी जिंदगी का ढंग-ढर्हा ही बदलने लगा। अपने अंदर की ऊर्जा और गुस्से को अब मैं एक रचनात्मक दिशा दे पा रहा था। मैं अपने अंदर एक नया जोश, नई उम्मीद और उमंग महसूस करने लगा था। मुझे अपना रास्ता मिल गया था। मैंने जैसे-तैसे जिंदगी जीने, नहीं काटने, के रास्ते को छोड़कर जिंदगी को बदलने का रास्ता पकड़ लिया था, ताकि इसे जीने लायक बनाया जा सके।

अब मेरे अंदर की वह बेबसी खत्म हो गई थी जिससे मेरे नौजवान होने के अहसास को ही मार दिया था और मुझे 25 साल का बूढ़ा बना दिया था। अब एक बार फिर से मैं नौजवान हो चुका हूँ और ऐसा नौजवान जो कभी बूढ़ा नहीं होगा।

## सेवा या उद्योग? अरे नहीं!

### सेवा उद्योग!!

● गीतिका, इलाहबाद

यूँ तो कहा जाता है कि 'सेवा' को 'मेवा' से दूर रखो, लेकिन प्रशासन सेवा के बदले रोटी का एक टुकड़ा देने की

नीति लागू कर रहा है। प्रशासन में बैठे मदारियों का कहना है कि 'आपको नौकरी चाहिए? ठीक है! थोड़ी-सी सेवा कीजिए, थोड़ा-सा पैसा लीजिए और अपने मामूली सपनों को भी पूरा कीजिए और हमारे शोषण की व्यवस्था की उम्र को भी लम्बा कीजिए!' वैसे भी मीडिया ने हमें जो सपना दिया है वह आजकल के एक गीत में अच्छी तरह अभिव्यक्त होता है - 'मुझे मिल जाए जो थोड़ा पैसा... चाहे जैसा...'। बेरोजगारी से नाउम्हीद नौजवानों की भारी जमात के गुस्से की नोक इस व्यवस्था की ओर न मुड़े इसके लिए व्यवस्था उनके सामने यह प्रस्ताव रख रही है कि 'अपने इस छोटे-से सपने को पूरा करो और हमें चैन की बंसी बजाने दो'। अगर नौजवान इस व्यवस्था के विकल्प के बारे में सोचने लगे तो इस व्यवस्था के सभी मदारी तो गए काम से। इसलिए शिक्षा दी जा रही है - 'समाज सेवा करो और दो जून की रोटी कमाओ!'

'सेवा-सेवा' की मंजीरी और चिमटा बजाने के पीछे प्रशासन का असली मकसद यह है कि लोगों की सामूहिक चेतना को जगाने से रोका जा सके। उन पर सेवा, एन.जी.ओ पंथ, सुधारवाद के ठण्डा-सुंगठित स्प्रे डाला जा रहा है। गैरतलब है कि हाल ही में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष अरुण निवेगकर ने पत्रकारों को बतलाया कि बेरोजगारी के संकट को दूर करने के मकसद से स्नातक कार्यक्रम में सेवा उद्योग को एक विषय के रूप में शामिल किया जाएगा और जल्द ही परिसरों में इस सम्बन्ध में एक निश्चित कार्यक्रम पेश किया जाएगा। ध्यान देने की बात यह है कि इस पूरे खेल में उद्योग जगत की प्रमुख हस्तियाँ भी भाग ले रही हैं।

ऐसा नहीं की भारत सरकार अपनी विनाशकारी नीतियों से युवाओं के सपनों को कुचलने में पीछे रही है। मगर फिर भी युवाओं के सपनों और चेतना के जागने के विचार से वह इतनी भयक्रांत है कि युवाओं को एकजुट होने से रोकने, उनकी संवेदनशीलता को कुंद बनाने, और उन्हें तार्किक होने से रोकने के लिए एक के बाद एक कदम बढ़ा रही है। गैर-सरकारी संगठनों को गैर सरकारी ढंग से पनपाने के बाद अब सरकार उनकी भर्ती के केन्द्रों को सेवा उद्योग विषय स्थापित करके व्यवस्थित करने का काम कर रही है। वह सेवा की कोमल भावना (जो विशेष रूप से एक इसानी गुण है) को इसलिए बढ़ावा दे रही है ताकि उसका इस्तेमाल एक सेफ्टी-वॉल्च के रूप में इस्तेमाल किया जा सके। 'सेवा' को एक उद्योग का दर्जा देने का क्या मतलब है? 'दुनिया की विच्युतियों से नफरत और उन्हें दूर करने की चाहत' को तब्दील कर दिया गया 'दुनिया की विच्युतियों से कमाई की भावना में'। जिनको भारत के बहादुर और इंसाफपंसद नौजवानों के क्रोध के प्रचण्ड आवेग से इस शोषक व्यवस्था के तहस-नहस हो जाने का इन्तजार है वे अब उन नौजवानों की सेवा का अंशदान से अपनी तकलीफों को कुछ देर के लिए भूल जाएँ-यही तो है सेवा की ढफली बजाने वालों की दोहरी चाल। इस चाल को समझना होगा और नाकाम करना होगा।

## टूटते सपने, बिखरती उम्मीदें

● योगेश स्वामी, दिल्ली

हर नौजवान अपनी जिंदगी में कुछ बनने का सपना देखता है। सुधीर तेवतिया ने भी एक सपना देखा था - पत्रकार बनने का। लेकिन बागपत के किसान परिवार के इस नौजवान को शायद नहीं पता था कि वर्तमान व्यवस्था में कुछ बन पाने का सपना देखने का अधिकार केवल धनासेठों के बेटे-बेटियों को ही है। लेकिन फिर भी सुधीर सोचता था कि वह अपनी योग्यता के बल पर कुछ बन जाएगा। उसने सोचा कि पहले दिल्ली विश्वविद्यालय के किसी कॉलेज से पत्रकारिता की पढ़ाई की जाए और फिर इसी क्षेत्र में आकर अपने आप को सावित किया जाए। अपने सपने को हकीकत में बदलने के लिए सुधीर ने दि. वि. वि. के श्री गुरु तंग बहादुर खालसा कॉलेज (सांध्य) में दाखिला लिया। एक निम्न मध्यम वर्गीय परिवार से होने के कारण उसकी आर्थिक स्थित ऐसी नहीं थी कि वह दिल्ली में ही कमरा किराये पर ले कर रह सके। इसलिए उसे रोज कॉलेज आने के लिए बागपत से लगभग दो-ढाई घंटे का सफर तय करना पड़ता था। अपना आने-जाने का खर्च निकालने के लिए वह स्वयं एक 12वीं तक के प्राईवेट स्कूल में पढ़ाया करता था। प्रथम वर्ष की फीस उसने किसी से उधार ले कर दी थी जिसका पैसा फसल कटने पर चुकाया जाना था। लेकिन प्रथम वर्ष पूरा होते ही उसके कुछ बन पाने के सारे सपने टूट गए। इसलिए नहीं कि उसमें पत्रकार बनने की योग्यता नहीं थी। अपनी प्रथम वर्ष की पढ़ाई से उसने सावित कर दिया था कि उसमें एक पत्रकार बनने की योग्यता व प्रतिभा है। लेकिन इसकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसके पास पैसा नहीं। इस साल कॉलेज द्वारा फीस, 7,710/- रु० से बढ़ाकर 11,000/- रु० कर दी गई, यानी फीस में लगभग 35 फीसदी की बढ़ातरी। इतनी फीस दे पाना उसके बस की बात नहीं थी। अखिरकार उसने कॉलेज छोड़ने का फैसला किया। कोर्स से जुड़े अध्यापक और कॉलेज प्रशासन जानतां था कि वह क्यों कॉलेज छोड़ रहा है। लेकिन उनसे किसी भी प्रकार की उम्मीद व्यर्थ थी। सुधीर बापस अपने गांव लौट गया। इस देश की 70 फीसदी जनता से आने वाले छात्र नौजवान हर वर्ष सुधीर की तरह ही कुछ बनने का सपना लिए विश्वविद्यालय में आते हैं। लेकिन जल्दी ही उनके सपने टूट जाते हैं। मध्यम वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक के नौजवानों को अच्छी तरह समझ लेना होगा कि इस व्यवस्था में उच्च शिक्षा उनके लिए नहीं है। उनके लिए सिर्फ उतनी ही शिक्षा है कि वह एक मजदूर बन सके। ऐसी स्थिति में क्या नौजवानों को सपने देखना छोड़ देना चाहिए! नहीं, कर्तृ नहीं! आज युवाओं को चाहिए कि वह कैरियरवादी सपनों को छोड़कर नए समाज को बनाने का सपना देखें। एक ऐसा समाज जहाँ शिक्षा और रोजगार मूलभूत अधिकार हो। मँहगी होती शिक्षा और रोजगार के घटते अवसर इस पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। इसलिए बिना व्यवस्था को बदले कैरियर को लेकर बनाए गए हर बड़े सपने का टूटना निश्चित है। कुछ

बड़ा बनने का सपना पैसे की माँग करता है। जबकि एक नए समाज को बनाने का सपना नौजवानों के त्याग, बलिदान और समर्पण की माँग करता है।

## ‘आई ऐम नॉट गुड ऐट हिन्दी यू नो!!’ क्या वाकई!

● सरगम, दिल्ली

मैं अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम कुछ समय पहले तक ज्यादातर अंग्रेजी को बनाया करती थी। मैं कहा करती थी कि मैं हिन्दी में नहीं लिख सकती। समाज के एक खास हिस्से में स्थान पाने के लिए मैं बड़े टशन के साथ ये वाक्य बोलती थी—‘माई हिन्दी इज नॉट वेरी गुड’ या ‘आई कान्ट राइट इन हिन्दी, यू नो!’ लेकिन आज अगर सच्चे मन से कहूँ तो ऐसा नहीं था। मैं हिन्दी में सोच भी सकती थी, बोल भी सकती थी और लिख भी सकती थी। उस ‘हाई सोसायटी’ की सोहबत और सुरुर में मुझे भी धीरे-धीरे यह यकीन हो चला था कि मेरी हिन्दी अच्छी नहीं है। नतीजतन, बहद सोच समझकर मैंने हिन्दी में लिखना और पढ़ना छोड़ दिया। दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजियत एक स्टेटस सिम्बल है और इसी के कारण मैं भी अंग्रेजियत में रंग गई। और करेले पर नीम यूँ चढ़ा कि मैं सिडनी शेल्डन, लुडलुम, डेनीज़ स्टील और इसी श्रेणी के अन्य टुच्चे अंग्रेजी उपन्यासकारों के घटिया उपन्यास पढ़ने लगी जिन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेजों के छात्र बड़े चाव से पढ़ते हैं। ये उपन्यास जिस समाज का चित्रण करते हैं वह भारत के आम युवाओं के सामने कभी मूर्त रूप में नहीं उतरता और एक स्वप्नलोक के समान होता है जिसकी अफीम के नशे में वह जीने लगते हैं। जिन्दगी की सच्चाइयों, त्रासदियों से अपने को काट लेते हैं। इन किताबों का बुरा असर मानसिक स्थिति पर तो पड़ता ही है ये भाषा को भी चौपट कर देती हैं। कुल मिलाकर ये सपनों की हत्यारी होती हैं।

बहरहाल, इससे पहले कि ये किताबें मुझे पूरी तरह तबाह कर पातीं इतेकाक से मुझे अंग्रेजी की क्लासिकीय रचनाओं को पढ़ने का चस्का लग गया। लेकिन जो छात्र अभी भी इन किताबों के इन्ड्रजाल में हैं वे धीरे-धीरे समाज से कटते जाते हैं। उन्हें समाज की बुराइयाँ तो नज़र आती हैं मगर उन्हें ठीक करने की फुरसत उनके पास नहीं होती। वे अपने सड़कछाप उपन्यासों के नायकों की तर्ज पर अपने बल पर धन और ताकत हासिल कर लेने की फिराक में रहते हैं। उसके लिए वे किसी को भी टाँगड़ी मारना या उसको सीढ़ी बनाकर ऊपर चढ़ना अपने तेजतर्रर होने की निशानी मानते हैं न कि पशुवत् होने की निशानी।

अब आते हैं भाषा पर उपन्यासों के बुरे प्रभाव पर। ये उपन्यास अंग्रेजी की गन्दी गालियों से रंगे होते हैं जिनका

प्रयोग आपको ‘आधुनिक’ बनाता है। दूसरे, ये उपन्यास बेड सीन्स और पतित और रुग्न किस्म की सेक्स-सम्बन्धी चर्चाओं से भरे होते हैं जो आम युवाओं में तमाम कुण्ठाओं और वर्जनाओं को जन्म देती हैं।

इनके आलावा कुछ खास शब्दों का इस्तेमाल आपको ‘हिप एण्ड हैपेनिंग’ बनाता है। जैसे विश्वविद्यालय के पीछे के बाजार कमला नगर को कमला नगर नहीं बल्कि ‘के नैग्स’ बोलें, रिक्षा को रिक्षा नहीं बल्कि ‘रिक’ बोलें, गुलाब जामुन को गुलाब जामुन नहीं बल्कि ‘जी जैम्स’ बोलो। अगर आप ऐसा करते हैं तो आप निम्न प्रकार का एक वाक्य बोलने में अपने आपको सक्षम पाएंगे—‘टेक ए रिक टू के नैग्स एण्ड हैव जी जैम्स!!!’।

चाहे हिन्दी हो या अंग्रेजी, भाषा के साथ ऐसा खिलवाड़ अवाञ्छित माना जाएगा। एक अन्य भद्रा मजाक जो भाषा के साथ होता है वह है शब्दों का लघुरूप बनाना—जैसे ‘के 3 जी’ (कभी खुशी कभी गम), ‘आए एच टी डी एम’ (रहना है तेरे दिल में) आदि। यह भाषा का अपमान है और एक खास वर्ग का इस पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास भी।

यह सारी चीजें कुल मिलाकर एक ऐसा माहौल रचती हैं जिसमें जब कोई आप वर्ग का छात्र अपने घर से दूर आता है तो कुण्ठित हो जाता है। वह इस नए माहौल में घुल-मिल नहीं पाता क्योंकि वह सरकारी स्कूलों का पढ़ा होता है, बन्तू नहीं होता, भाषा को तोड़-मरोड़कर नहीं बोलता, यानी कुल मिलाकर अजायबघर का प्राणी नहीं होता। नतीजतन, वह अपने आपको कम सक्षम समझने लगता है।

इस अजायबघर को खत्म करने की ज़रूरत है, न कि उसका हिस्सा बनाने की। जो अपनी भाषा बोलते हैं उन्हें गर्व करना चाहिए न कि शर्म। उनकी पहचान किसी विदेशी भाषा पर नहीं बल्कि अपनी भाषा पर निर्भर करती है। इस तरह उनका पूरा बजूद, उनकी पहचान अमरीका की नकल और उधार की भाषा और सोच पर नहीं निर्भर करती बल्कि अपने देश की भाषा पर निर्भर करती है।

## महँगी होती स्वास्थ्य सुविधाएँ और जान गँवाते ग़रीब

● पवन, दिल्ली

सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की बदतर हालत यूँ तो कोई छुपी हुई बात नहीं है लेकिन कुछेक घटनाएँ इस तार-तार होते जनकत्याणकारी राज्य की नंगई को और ज्याद बेपर्द कर देती हैं। ऐसी ही एक घटना इस देश की राजधानी के एक प्रमुख अस्पताल में पिछले दिनों घटिय हुई। 4 सितंबर 2004 को राष्ट्रीय सहारा के मुख्य पृष्ठ पर छपी खबर के अनुसार अपने खराब हृदय वाल्व का आपरेशन कराने दिल्ली आए त्रिलोक

चंद ने आपरेशन का बिल 50000 रुपए देखकर उसे न चुका पाने की असमर्थता से उपजी निराशा में अस्पताल की सातवीं मजिल से कूदकर अपनी जान दे दी।

त्रिलोकचंद सिकंदरादाबाद (बुलंदशहर) के रामखेड़ा गाँव का रहने वाला था। वह छोटी-मोटी नौकरी करता था। 3 बच्चों वाले परिवार में गुजारा जैसे-तैसे चलता था कि हृदय की बीमारी ने उसे आ धेरा। किसी तरह जुगाड़ लगाकर कानपुर स्थित ई-एसआई अस्पताल में उसका इलाज चालू हुआ। इलाज के दौरान उसका परिवार गहरी आर्थिक समस्याओं में उलझ गया। चूंकि आजकल सरकारी अस्पतालों में केवल डाक्टर और बेड की फीस नहीं ली जाती बाकी सबकुछ जैसे दवाइयाँ, महँगी जाँच, यहाँ तक कि आपरेशन के बक्त काम आने वाले सर्जिकल उपकरणों का खर्च भी मरीज के घरवालों से वसूला जाता है। इनसब में त्रिलोकचंद कर्जों में उलझ गया। लेकिन परेशनियों ने अभी उसका पीछा नहीं छोड़ा था। कानपुर में आपरेशन के बाद डाक्टरों ने उसे दिल्ली जाकर आपरेशन कराने की सलाह दी। किसी तरह हिम्मत करके वह पत्नी और छोटे भाई के साथ आकर दिल्ली के गोविंदवल्लभपंत अस्पताल में दाखिल हो गया। यहाँ उसका 27 अगस्त को सफल आपरेशन हुआ और वह तेजी से ठीक भी होने लगा। लेकिन अस्पताल प्रशासन द्वारा उसे लगभग 50000 रुपए का बिल तुरंत जमा कराने का आदेश दिया गया। पहले से कर्ज में फँसा त्रिलोकचंद इतने पैसे देने की स्थिति में नहीं था सो उसने और उसकी पत्नी ने चिकित्सक अधीक्षक, निदेशक आदि से गुहार लगाई, उन्हें शुल्क माफ करने की काफी मिन्टों की गयी लेकिन बैअसरा। उन्हें सीधे बिल जमा करने का टका-सा जवाब दे दिया गया। इसी ऊहापोह में 3 सितंबर की सुबह जब उसकी पत्नी सुबह का नाश्ता लेने गयी तो त्रिलोकचंद ने वह फैसला लिया जो असहायता और गहन निराशा के अन्धकार में डूबा व्यक्ति ले सकता है। उसने अस्पताल की 7 वीं मजिल से कूद कर अपनी जान दे दी। और देश की स्वास्थ्य सेवाओं की गरीब लोगों के लिए सार्थकता पर एक करारा तमाचा भी मार दिया।

त्रिलोकचंद की मौत कई सवाल खड़े करती हैं। क्या गरीब को बीमारी का इलाज नहीं मिलना चाहिए? क्या मरीज को पैसों के अभाव में मरने के लिए छोड़ देना चाहिए? क्या सरकारी अस्पतालों में भी 50000 जैसी बड़ी राशि का बिल मरीज से वसूला जाना चाहिए? अगर हाँ, तो इस देश की स्वास्थ्य सेवाएँ किस काम की? फिर सरकार का घोषित मुख्य काम शिक्षा, स्वास्थ्य आदि बताए जाने का झूठा ढोंग क्यों? फिर सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च होने वाले हजारों करोड़ रुपयों की क्या उपयोगिता?

वैसे भूमंडलीकरण और निजीकरण के इस दौर में सरकार स्वयं शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि देने के काम से खुले तौर पर पीछे हट रही है। पिछले दिनों प्रकाशित एक रपट में भारत में स्वास्थ्य के क्षेत्र में निजी क्षेत्र की बढ़ती भागीदारी और सरकारी क्षेत्र की घटती भागीदारी को दर्शाया गया था। साफ है कि वर्तमान व्यवस्था में बीमार पड़ना भी एक अपराध

बन गया है जिसे करने से गरीब आदमी बच ही नहीं सकता! यह भी साफ है सरकार अपने आपको अब शिक्षा स्वास्थ्य देने वाले जनकल्याणकारी राज्य के बजाय आर्थिक गतिविधियों को अंजाम देने वाली एक कार्पोरेट कंपनी के रूप में काम करता देखने को उत्सुक है और बस दिशा में अग्रसर है। और करेले पर नीम यूँ चढ़ा कि सुप्रीम कोर्ट के हालिया फैसले के तहत डाक्टर द्वारा लापरवाही से मरीज को पहुँची क्षति से के खिलाफ आपराधिक मुकदमा दर्ज कराना बहुत मुश्किल बना दिया गया है। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि सरकारी अस्पतालों के लापरवाह डाक्टर लापरवाही करने को अब कितना स्वतंत्र हो गए हैं? यह इस व्यवस्था के मुराखोर, मुनाफाखोर और कफनखसोट चरित्र को और उजागर करता है।

## टंगड़ी मार आगे बढ़!!

### ● गीतिका, इलाहाबाद

जब बच्चा पैदा होता है तो समाज में अपनी स्थिति के प्रति सचेत नहीं होता। प्रकृति भी उसके अमीर या गरीब होने के आधार पर उसके साथ भेदभाव नहीं करती। भेदभाव तब शुरू होता है जब वह मानव-रचित समाज में प्रवेश करता है। यह अच्छा है, यह बुरा है; यह बड़ा है, वह छोटा; यह ऊँचा, वह नीचा; यह अच्छा है, वह बुरा; यही अपने चारों ओर देखता-सुनता और गुनता-बुनता बड़ा होता है। नतीजतन, उसमें पैदा होती है प्रतियोगिता। प्रतियोगिता एक स्वस्थ समाज में भी होगी। लेकिन चूंकि वहाँ कोई भी बेहतर क्षमता किसी का निजी मालिकाना नहीं होगी इसलिए जो किसी मामले में प्रतिभावान होगा वह अपनी योग्यता का उपयोग समस्त समाज के प्रगति के लिए करेगा और अगर ऐसा होगा तो उस मामले में उससे कम योग्य व्यक्ति उससे जलेगा नहीं, न ही कोई अस्वस्थ प्रतियोगिता करेगा। और इस प्रकार वह उसकी उन्नति को अपनी अवनति नहीं बल्कि पूरे समाज की उन्नति समझेगा।

लेकिन पूँजीवादी समाज योग्यता की कसौटी को ही इतना संकरा बना देता है कि एक अस्वस्थ प्रतियोगिता का पनपना लाजिमी है। कोई व्यक्ति अगर सिविल सर्विसें, इंजीनियरिंग, डॉक्टरी आदि की तैयारी न करे तो वह अक्षम हो जाता है। वह इस काम में नाकाम तो हर काम में नाकाम। तो क्या हुआ कि वह अच्छा गा सकता है, कविताएँ लिख सकता है, या चित्र बना सकता है? चूंकि ये योग्यताएँ पूँजीवादी समाज में हावी पिटी-पिटाई, घिसी-घिसाई लीक से मेल नहीं खातीं इसलिए इन्हें योग्यता माना ही नहीं जाएगा। जो रटन्त विद्या में माहिर तोता न बन सके वो अक्षम। यह रुझान बच्चों में बचपन से डाला जाने लगता है और उपदेश दिया जाता है कि 'जो इस घिसी-पिटी लीक पर चले, वे श्रेष्ठ थे। तुम भी श्रेष्ठ बनो।' बच्चे के दिलों-दिमाग को ये उपदेश इस कदर हाँ-ट करते हैं कि वह अपनी सभी इच्छाएँ, चाहतें, सपनें दबा जाता है और कुछ समय बाद एक वैसा ही बुझी आँखों और पीले चेहरे वाला नौजवान बनकर सामने आता है, जो आई.ए.एस., पी.सी.एस.,

इन्जीनियर, डॉक्टर आदि बनने की रुग्ण पूँजीवादी प्रतियोगिता में अपने आपको घिसे जा रहा है, अपने जीवन से हताश है, और मौका मिलने पर किसी को भी सीढ़ी बनाकर ऊपर चढ़ने से नहीं चूकेगा।

वहीं एक ऐसे समाज की कल्पना कीजिए जहाँ सभी बच्चे अपनी-अपनी रुक्षानों और जिज्ञासाओं के अनुरूप इस अनोखी दुनिया को „जान-समझ रहे हैं, जिन्दगी के सौन्दर्य को यानी ‘श्रम’ को करना सीख रहे हैं और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षित-प्रशिक्षित हो रहे हैं। ऐसे समाज ही सम्पूर्ण मानव का निर्माण कर सकते हैं।

लेकिन आज के समाज में इसके ठीक उल्टा होता है। बच्चा अपने किसी दोस्त से इसलिए चिढ़ने लगता है कि फलाँ क्षेत्र में उससे आगे है। यही स्वभाव एक मुकाम पर घटिया प्रतियोगिता की भावना में बदल जाता है, जो दूसरों के कधों पर पाँव रखकर चढ़ने और टंगड़ी मारने में अभिव्यक्त होती है। नौकरी हो या शोध संस्थान, दोनों ही जगह इसका असर दिखता है। अपना शोध करने की बजाय लोग दूसरों को ब्लैक-लिस्ट करने पर तुले रहते हैं। तमाम औद्योगिक संस्थानों में यह विभिन्न प्रकार की जालसाजियों के रूप में सामने आती है।

इस स्थिति का निवारण उस समाज में दिखता है जिसमें व्यक्ति मानवीय भावनाओं से लबरेज़ हो, लोगों में परस्पर विश्वास हो, हर व्यक्ति का सरोकार अपने व्यक्तिगत विकास से नहीं बल्कि समाज के छहुँमुखी विकास से हो जिसमें उसका विकास भी निहित होता है।

## जहाँ हँसना भी सीखना पड़े..

● नमिता, डलाहाबाद

विज्ञान बताता है कि मनुष्य तीन क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से करता है—रोना, हँसना और गाना। हँसना—रोना—ये कोई किसी को सिखाता नहीं। लेकिन तमाम महानगरों में हमें एक ऐसी परिघटना देखने को मिल रही है जो हमें यह सोचने पर मजबूर कर रही है कि या तो विज्ञान गलत कहता है या फिर हम धीरे-धीरे इस मानवीय गुण को खो रहे हैं।

दिल्ली, मुम्बई, जैसे तेज गति वाले शहरों के पाकों में सबह जाएँ तो 15-20 या इससे भी ज्यादा लोगों का झुण्ड आपको ‘हो-हो, हा-हा’ करते हँसता मिल जाएगा। पूछने पर आप पायेंगे कि ये लोग बेवजह हँस रहे थे या हँसने के लिए हँस रहे थे। इस झुण्ड को ‘लाफिंग क्लब’ कहते हैं यानि—‘हँसोड सभा’। यहाँ बताया जाता है कि चूंकि हँसना स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है, इसलिए हँसो। सारे दुख, तकलीफ, तनाव भुलाकर हँसो। एक लाफिंग क्लब चलाने वाले सज्जन बताते हैं: ‘कि बिना हँसी के जीवन नीरस है। हम इसमें रस भरते हैं।’ बतीसा दिखाकर चौंतीसा (माल) ऐंठना ही इनका धंधा है। ओशो जैसा ठग देनी पड़ेगी कि वह खुद ही बोलता था कि ‘मैं अमीरों का दार्शनिक हूँ।’

लोगों को हँसाने के लिए जरूरी है कि हँसने की वजहें पैदा की जाएँ न कि हँसने का उपदेश दिया जाए। हँसने की वजह ऐसे समाज में ही हो सकती हैं जहाँ हर मनुष्य किसी भी प्रकार की गुलामी से मुक्त रहकर जी सके। एक ऐसा समाज बनाने की जरूरत है जिसमें किसी भी रूप में शोषण न मौजूद हो और लोग खुली हवा में खुले दिले से ठहाके लगा सकें।

यह भी एक मौजूँ सवाल होगा कि इन लाफिंग क्लबों में अधिकांशतः उच्च मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के लोग ही क्यों जाते हैं? हालाँकि सामान्य बोध से देखा जाए तो इन लोगों के सामने अस्तित्व का कोई सवाल नहीं खड़ा होता, लिहाजा गम्भीर होने की सबसे कम वजहें इनके पास होनी चाहिए। लेकिन नहीं। ऐसे में हमें मार्क्स का वह उद्धरण याद आता है जिसमें वह बताते हैं कि एक पूँजीवादी समाज में मुक्त पूँजीपति वर्ग और उच्च वर्ग भी नहीं होता। पूँजी 24 घण्टे उनकी पीठ पर सवार रहती है। यही कारण है कि बाथरूम, किचन और टॉयलेट तक में शेयर का हाल जानने के लिए फोन लगे होते हैं। हर घड़ी तनाव रहता है। कहाँ धंधा फल-फूल रहा है, कहाँ पैसा ढूब रहा है। उपक! कितना तनाव। ऐसे में तमाम रोग-व्याधियाँ इन लोगों को जकड़ती हैं। और इसी मौके पर अवतरित होते हैं तमाम बाबा, संत, महात्मा लोग जो हँसी के लाभ बताते हैं। और नतीजा होता है लाफिंग क्लब।

दूसरी ओर आम जनता जिसके पास वाकई तनावग्रस्त और गम्भीर रहने की वजहें हैं, वह अपने तमाम दुर्खाँ, तकलीफों के बीच भी हँस-गा-बोल लती है। इन लोगों में कोई अलगाव नहीं होता। एक तो वैसे ही जीवन कठिनाइयों से भरा होता है, ऊपर से हँसने के मौके पर आदमी हँसे भी न, तो या तो वह पागल हो जाएगा या मर जाएगा। ऐसे लोगों को इन लाफिंग क्लबों में जाने की न तो ज़रूरत है और न वक्त। लाफिंग क्लब उच्च वर्ग के रूप, तनावग्रस्त, अलगाव से पीड़ित, कुण्ठित, तमाम ईर्ष्याओं में सिंक-भुन रहे मानस को ताल्कालिक राहत पहुँचाता है। अब यह एक दीगर बात है कि ओशो जैसे ठग और पाखण्डी जो परजीवी और दूसरों की मेहनत पर ऐसा करने में यकीन रखते हैं, यह फरमान सुना दें कि दुनिया मनोरोगी है। हालाँकि वह खुद ही मनोरोगी हैं। ओशो ने जो ‘खाओ-पियो-ऐशा करो’ का दर्शन दिया है उसे अफोर्ड सिर्फ धनी वर्ग करता है और इस मामले में उसकी साफगोई की दाद देनी पड़ेगी कि वह खुद ही बोलता था कि ‘मैं अमीरों का दार्शनिक हूँ।’

लोगों को हँसाने के लिए जरूरी है कि हँसने की वजहें पैदा की जाएँ न कि हँसने का उपदेश दिया जाए। हँसने की वजह ऐसे समाज में ही हो सकती हैं जहाँ हर मनुष्य किसी भी प्रकार की गुलामी से मुक्त रहकर जी सके। एक ऐसा समाज बनाने की जरूरत है जिसमें किसी भी रूप में शोषण न मौजूद हो और लोग खुली हवा में खुले दिले से ठहाके लगा सकें।